भव-बन्धनों से मुक्त हों

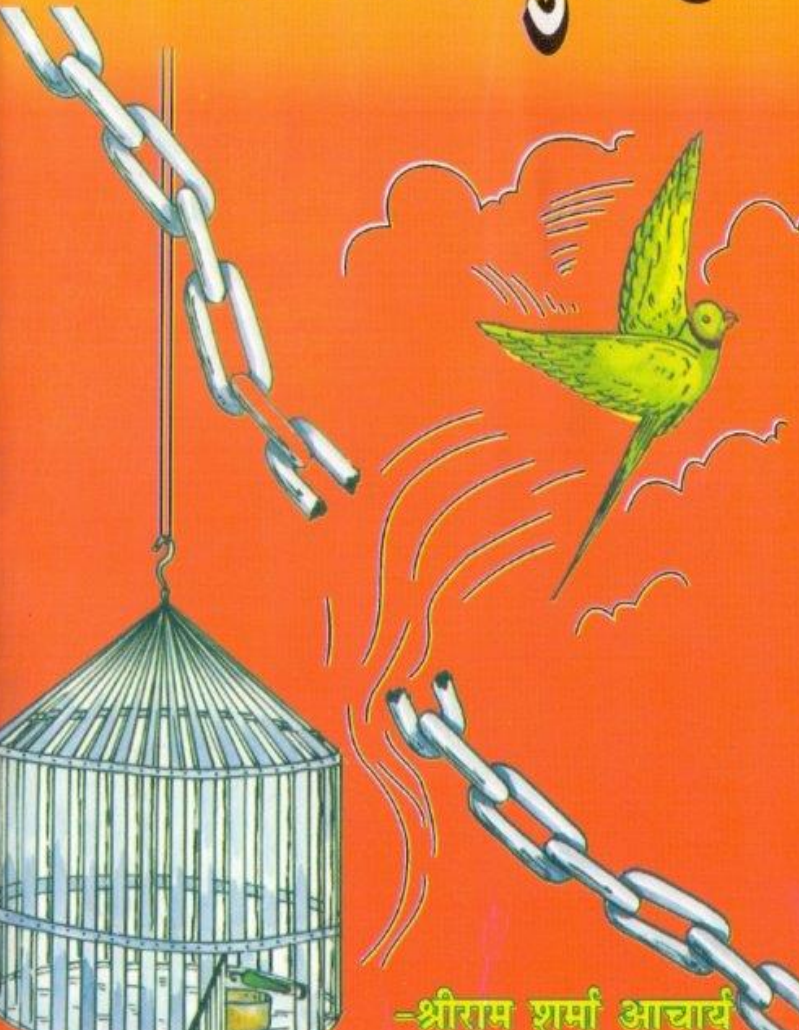

-श्रीराम शर्मा आचार्य

वासना–इन्द्रिय शक्ति के साथ खिलवाड़

आग की उपयोगिता सर्वविदित है । उसके अनेकानेक उपयोग हैं । यदि वह न हो, तो रसोई बनाना, शीत निवारण, प्रकाश जैसी आवश्यकताएँ भी पूरी न हो सकें और जो अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं, धातु शोधन जैसे कार्य होते हैं, उनमें से एक भी न बन पड़े और जीवन दुर्लभ हो जाय । बिजली भी अब जीवन की महती उपयोगिताओं में, आवश्यकताओं में सम्मिलित हो गयी है । घरों में बत्ती, पंखा, हीटर, कूलर, स्त्री आदि उसी के सहारे चलते हैं । वही पम्प चलाती और खेतों को सींचती है । यदि बिजली गुम हो जाय, तो दैनिक काम निपटाना कठिन हो जाता है ।

आग और बिजली की तरह ही ज्ञानेन्द्रियों की उपयोगिता है । हमारी समस्त गतिविधियाँ उन्हीं के सहारे चलती हैं । आँखें न हों तो ? कान न हों तो ? जीभ न हो तो–देखना, सुनना और बोलना कठिन हो जाय और मनुष्य अंधा, गूँगा, बहरा बनकर मिट्टी के ढेले की तरह किसी प्रकार जीवित भर रह सकेगा । हाथ–पैर न हों, तो वह गोबर के चोथ जैसा बैठा रहेगा और साँस भर लेता रहेगा । आग और बिजली की तरह भगवान ने इन्द्रियाँ भी इसीलिये दी हैं कि उनसे कठिनाइयों का हल निकाला जाय और प्रगति का द्वार खोला जाय । सुसम्पन्न और प्रगतिशील बनने में इन्द्रियाँ ही प्रमुख भूमिका निभाती हैं । आग और बिजली की तरह उनकी क्षमता भी असाधारण है । केंचुए और इन्सान में यही फर्क है कि केंचुए को इन्द्रियाँ नहीं मिली हैं, पर मनुष्य को उन विभूतियों

से सुसम्पन्न होने का सुयोग मिला है । सृष्टि का मुकुटमणि मनुष्य को कहा गया है, पर यह स्तर कैसे प्राप्त हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर इसी प्रकार मिलता है कि उसे इन्द्रियों की विशिष्ट क्षमता उपलब्ध है । चिन्तन में समर्थ मस्तिष्क की महत्ता अनुपम है । वह भी ग्यारहवीं इन्द्रिय ही है । जीवन की सरसता और समर्थता इन्हीं के सहारे बन पड़ती है । इन्हें सर्वोपयोगी सर्वसमर्थ उपकरण भी कहा जाता है, जो निरन्तर साथ रहते और अपने-अपने काम में जुटे रहते हैं । जीवन रथ इन्हीं के आधार पर गतिशील रहता है ।

आग को कोई मनोरंजन के काम भी ला सकता है । बच्चे दियासलाई जलाने-बुझाने का खेल अवसर पाते ही खेलने लगते हैं । फुलझड़ी, अनार, पटाखे जैसे अतिशबाजी के खेल भी इसी श्रेणी में आते हैं । इस प्रकार मनोरंजन तो हो जाता है, पर साथ ही खतरा भी रहता है कि तनिक-सी असावधानी हुई कि जान जोखिम हो सकती है । चिन्गारी उड़कर छप्पर को जलाये, तो सारा घर स्वाहा हो सकता है, जीवन भर की कमाई नष्ट हो सकती है और उसकी चपेट में फँसे हुए मनुष्य या पशु-पक्षी भी जल सकते हैं । इस प्रकार आग का खेल या उसका असावधानी के साथ किया गया प्रयोग भयंकर काण्ड खड़े कर सकता है । इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही बात है । उनका लाभ तभी तक है, जब तक कि उनका सत्प्रयोजनों में योजनाबद्ध रूप से सतर्कतापूर्वक उपयोग किया जाय । यदि इसमें व्यतिरेक उत्पन्न किया जाय, तो समझना चाहिये कि अनर्थ को ही आमंत्रित किया जा रहा है ।

स्रष्टा ने इन्द्रियों में दुहरी विशेषतायें भरी हैं । वे जीवनचर्या के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का भी वहन करती हैं, साथ ही सरसता का पुट भी है, जिसके सहारे कहीं बाहर न जाकर इन्हीं के सहारे मनोरंजन का भरपूर लाभ उठाया जा सकता है । यह कृत्य जब तक सीमाबद्ध रहता है, तब तक उनका उभय पक्षीय लाभ भी है, पर जब स्वाद की सरसता

नशेबाजी की तरह व्यसन बन जाती है और मर्यादाओं का उल्लंघन करती है, तो उससे होने वाली हानि भी असाधारण हो जाती है, अनर्थ की सीमा जा छूती है ।

आँख का उपयोग वस्तुओं को देखना और उनका सदुपयोग करना है । अध्ययन-अध्यापन में भी उन्हीं की प्रधानता रहती है । शिल्प व्यवसाय में आँखों की ही प्रमुखतापूर्ण भूमिका रहती है । यह उसका क्रिया पक्ष हुआ । मनोरंजन पक्ष वह है, जब प्रकृति के सौन्दर्य को निहारते हुए उल्लास भरा आनन्द लिया जाता है । सौन्दर्य बोध उन्हीं के सहारे होता है । सिनेमा, अभिनय नृत्य सर्कस आदि उन्हीं के माध्यम से देखे जाते हैं । यह सरसता पक्ष की प्रक्रिया हुई, पर इसकी भी एक सीमा है । सीमा के बाहर जाने पर टकटकी लगाकर घण्टों देखते रहना आँखों की क्षमता नष्ट करता है और कितने दृष्टिदोष, नेत्र रोग उठ खड़े होते हैं । कई बार तो इसी कुचक्र में आँखें भी गँवानी पड़ सकती हैं । यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है ।

अति को सर्वत्र वर्जनीय माना गया है । इन्द्रियों से उपयोगी कार्मों में भी अत्यधिक श्रम किया जाय; तो वे थककर चूर हो जाती हैं और अधिक भारवहन से इन्कार कर देती हैं । आगे के लिये उनकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है । यही बात उनके द्वारा किये जाने वाले रसास्वादन के सम्बन्ध में भी है । यदि उसमें अति बरती गयी, इस लोलुपता को व्यसन बना लिया गया तो इसका प्रभाव उनकी निजी क्षमता का दिवाला पिट जाना तो होता ही है, उस हानि से सहज शरीर और जीवन भी प्रभावित होता है । इसी रसास्वादन में अति बरतने की आदत को वासना कहते हैं । शास्त्रकारों ने वासना की अतिशय निन्दा की है और उसे आत्मघाती बताया है ।

जिह्वा की लोलुपता को ही लिया जाय, तो वह दुर्व्यसनी होकर चटोरी हो जाती है । स्वादिष्ट पदार्थों को क्षण-क्षण में उदरस्थ करने की ललक उठती रहती है । पल-पल में कुछ

जायकेदार, मजेदार खाने को जी चाहता है । नशेबाजों की तरह वासनाग्रस्त भी आवश्यकता से अधिक खाते रहते हैं । यदि पक्वान्न, मिष्ठान्न, मसालेदार पदार्थ मिलें, तो उन्हें इतनी मात्रा में उदरस्थ कर लिया जाता है, जो पेट की पाचन शक्ति से कहीं अधिक होते हैं । अधिक पका, गरिष्ठ एवं तामसिक भोजन पेट में सड़न पैदा करता है और वह धीमा विष समस्त शरीर में फैल कर अवयवों को क्षति पहुँचाता है । जहाँ–जहाँ विषाक्तता जमा हो जाती है, वहीं रोग फूट पड़ता है । इसी दशा में कष्ट सहन, परिचारकों के समय का अपव्यय तथा चिकित्सा के निमित्त होने वाला खर्च करना पड़ता है । आयुष्य घटती है, जीवनी शक्ति का ह्रास होता है और दुर्बलता–रुग्णता के कुचक्र में फँसे हुए जिस–तिस प्रकार जीवन काटना पड़ता है । यह है वासना का दण्ड, जिसे भोगे बिना किसी प्रकार छुटकारा नहीं मिल सकता । प्रकृति की अदालत में कड़े दण्ड की भी व्यवस्था है, वह मात्र अनुदान देने में उदार ही नहीं है । अव्यवस्था फैलाने वालों के प्रति कठोर भी है, ताकि वे प्रताड़ना की भाषा समझ सकें और भविष्य में गलती न करने की शिक्षा ग्रहण कर सकें ।

इन्द्रिय शक्ति सीमित है । वह इतनी ही है कि जीवनचर्या के आवश्यक कार्यों को क्रमबद्ध रूप से किया जा सके । अतिवाद सहन करने की स्थिति उनकी भी नहीं है । चटोरपन की वासना स्वास्थ्य को नष्ट करती और रोते–कराहते असमय में ही अकाल मृत्यु मरने के लिये बाधित करती है । वासना, उपभोग के समय तो अच्छी लगती है और उस स्वाद की अधिकाधिक ललक पूरी करने की तबियत होती है । जो इस लिप्सा के वशीभूत हो जाते हैं, वे कष्ट उठाते हैं । जो दूरदर्शी विवेक अपनाकर समय से पहले ही सतर्क हो जाते हैं, संयम अनुशासन बरतते हैं, वे ही बुद्धिमान कहलाते और उपलब्धियों का समुचित लाभ उठाते हैं ।

इन्द्रियों में जिन्हें प्रबल और प्रमुख माना जाता है, उनमें

स्वादेन्द्रिय के उपरान्त जननेन्द्रिय है । उसका प्रयोजन बहुत सीमित है । प्रायः वह मूत्र त्याग का दैनिक कर्म पूरा करती रही है । इसी के एक कोने में छोटा-सा अवयव है, जो प्रजनन के लिये काम आता है । प्रकृति की इच्छा है कि हर जीवधारी का वंश चलता रहे । उसकी प्रजाति धरातल पर स्थिर रहे । इसलिये मूत्रेन्द्रिय को ही यदा-कदा प्रजनन कार्य में जुटना पड़ता है । यह उसका प्रमुख नहीं गौण कृत्य है ।

प्रजनन में नर और मादा दोनों को ही असाधारण झंझट, जोखिम और दायित्व उठाने पड़ते हैं । ऐसे घोरकर्म में कोई विवेकशील क्यों फँसे ? और क्यों उसमें कोल्हू के बैल की तरह पिसते-घिसते रहना स्वीकार करे ? इस विवेकशीलता से प्रकृति-प्रयोजन में बाधा पड़ती है, इसलिये उसने यह चतुरता की है कि रतिक्रिया में एक उन्मादी रस जोड़ दिया है, जिसकी ललक से प्रेरित होकर प्राणी उसमें बेतरह आकर्षित होता है और उन क्षणों के उस रस-स्खलन को अमरमूरि जैसी उपलब्धि मान बैठता है एवं मात्र प्रजनन के निमित्त कम और यौनाचार की उत्तेजना के लिये उस वासना में आतुरतापूर्वक प्रवृत्त होता है । देखा गया है कि प्रजनन का लक्ष्य भूलकर बहुसंख्यक लोग वासना के निमित्त ही इस इन्द्रिय शक्ति का अपव्यय करते हैं । वासना की ललक में इस संदर्भ की समस्त मर्यादाओं को उठाकर ताक में रख देते हैं । जिह्वा के चटोरपन की तरह यौन-कार्य में भी अति बरतते हैं और प्रारब्धवश उसका कठोर दण्ड सहते हैं । जीवनी शक्ति के भण्डार को इस प्रकार नष्ट करने की उतावली बरतते हैं, मानों इसमें लाभ-ही-लाभ हो । चासनी में बेतरह टूट पड़ने वाली मक्खी इसी प्रकार अपने पर उसमें फँसाती और बेमौत मरती है । यही दशा कामुकों की होती है ।

मस्तिष्कीय कुशलता को, बलिष्ठता को बनाये रहने वाली जीवनी शक्ति का भण्डार शुक्र सम्पदा के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । कामुक व्यक्ति कुछ क्षण के रसास्वादन

को देखता है और यह भूल जाता है कि शरीर और मन का सार तत्व इस ललक लिप्सा के निमित्त किस प्रकार बर्बाद किया जा रहा है । इस बर्बादी का प्रतिफल जननेन्द्रिय रोगों से लेकर समूचे शरीर में दुर्बलता के रूप में परिलक्षित होते देर नहीं होती । कामुकता की अति जवानी में ही बुढ़ापे को लाद देती है ।

पशु–पक्षियों की, अन्यान्य जीव–जन्तुओं की यौनाचार पद्धति पर दृष्टि डाली जाय, तो प्रतीत होता है कि मादा की गर्भधारण क्षमता जब उत्तेजित होती है, तभी उसका आभास पाकर नर, मादा की सहायता करता है, अन्यथा अपनी ओर से उसका कोई संकेत, कोई प्रयास इस निमित्त नहीं होता । वह सदा इस संदर्भ की उपेक्षा ही करता है, संयम ही अपनाता है । मादा के गर्भधारण करने के उपरान्त तो छेड़छाड़ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । मनुष्य स्तर के प्राणी प्रायः वर्ष में एक बार काम–सेवन करते हैं । इतने में गर्भाधान भी हो जाता है । इसके बाद मुद्दतों के लिये छुट्टी ।

मनुष्य के लिये कामुकता का प्रसंग वर्ष में एक बार आये तो पर्याप्त है । अति अपनाने का परिणाम जीवनी शक्ति का अपव्यय तो प्रत्यक्ष ही है । जननेन्द्रिय की स्थानीय दुर्बलता और रुग्णता कम कष्ट नहीं देती । पुरुष की तुलना में स्त्री के प्रजनन अवयव कहीं अधिक कोमल हैं । वे अमर्यादित दबाव सहन नहीं कर सकते । टूट–फूट होने लगती है, तो उससे समूचा प्रजनन संस्थान क्षत–विक्षत होता है । समीपवर्ती अन्य अवयव भी उस टूट–फूट से प्रभावित होते हैं । मूत्राशय, गुर्दे, गर्भाशय, रीढ़, पेट, आँतें भी उस दबाव के कारण अपने ढंग के रोगों से आक्रांत होते हैं । इस स्थिति में जने गये बच्चे भी जन्मजात रुग्णता साथ लेकर आते हैं ।

स्वादेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के वासना ग्रस्त होने पर असीम हानि उठाने की चर्चा ऊपर की पंक्तियों में है । अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है । वे

अतिवाद की वासना के शिकार होकर अपनी-अपनी स्वस्थता और समर्थता को गँवाते चले जाते हैं । इस अनर्थ से बचना ही अच्छा है ।

नेत्रों से दिन के प्रकाश में ही काम करें । रात्रि में उन्हें विश्राम लेने दें । कानों को कोलाहल से बचायें । निरन्तर सुनते रहने की स्थिति से बचें । तीव्र सुगन्ध और दुर्गन्ध नाक पर बुरा असर डालती है और मस्तिष्क को अस्तव्यस्त करती है । शरीर पर चिपका हुआ मैल त्वचा की संवेदनशीलता को नष्ट करता है । इन्द्रियों के वासना के कुचक्र में फँसकर नष्ट होने के साथ ही यह भी ध्यान रखा जाय कि उन्हें न निष्क्रिय रहने दिया जाय और न अतिवाद अपनाकर नष्ट-भ्रष्ट ही किया जाय ।

तृष्णा : दुर्गति की गहरी खाई

आवश्यकताओं को पूरा करना एक बात है और अपव्यय में उड़ाने, ठाट-बाट बनाने और संग्रह करने की प्रवृत्ति सर्वथा दूसरी । इनमें से प्रथम को उचित और दूसरी को अनुचित ठहराया गया है ।

आवश्यकताओं का कोई मापदण्ड होना चाहिये, अन्यथा विलासिता और शेखीखोरी को भी अपनी विशिष्टता बताते हुए आवश्यकताओं की श्रेणी में गिना और गिनाया जा सकता है । अपनी प्रकृति ही ऐसी बन गयी है, अपना स्वभाव ही ऐसा हो गया है, जिसे मजबूरी बताकर अमीरों जैसी सजधज को भी सही बताया जा सकता है, उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न कहा जा सकता है । कहीं अदालत में तो जबाव देना नहीं है, अपने मन को समझाना और दूसरों का मुँह बन्द करना भर है । ऐसी दशा में कोई कुछ भी कर सकता है और शान-शौकत को भी आवश्यकता ठहराया जा सकता है ।

उचित आवश्यकता का मापदण्ड यह है कि वह औसत नागरिक स्तर की होनी चाहिये । औसत नागरिक का अर्थ है अपने देशवासियों में से मध्यम वर्ग के लोगों जैसा रहन-सहन । अपने देश में भी धन-कुबेर रहते हैं और दरिद्रनारायण भी । इन दोनों वर्गों को अतिवादी या अपवाद कहा जा सकता है । औसत अर्थ होता है-मध्यम वर्ग । अपने देशवासियों का उल्लेख करने का अर्थ यह है कि जिस समुदाय में रहा जा रहा है, उसकी स्थिति का आकलन । अमेरिका, जापान, फ्रांस, जर्मनी, कुबैत जैसे देशों की बात छोड़ी जा सकती है क्योंकि वहाँ का सामान्य व्यक्ति भी यहाँ के असामान्यों से बढ़कर होता है । इसी प्रकार वनवासी कबीलों की बात भी छोड़ी जा सकती

है, वे तो कपड़े के अभाव में पत्तों के परिधान बनाकर ही शरीर ढक सकते हैं । औसत आदमी न दरिद्र होता है, न सम्पन्न । यही है औसत नागरिक की परिभाषा । इसी स्थिति में अपनी, अपने परिवार की स्वस्थता, शिक्षा, चिकित्सा, आतिथ्य जैसी जरूरतों की पूर्ति हो सकती है । इससे कम की अभावग्रस्त स्थिति में स्थिरता और प्रगति रुकती है । इससे अधिक ऊँचा स्तर होने पर अनेक प्रकार की उलझनें उलझतीं और समस्यायें खड़ी होती हैं ।

तृष्णा का परामर्श और दबाव यह है कि अपने पास सम्पदा का बड़ा भण्डार होना चाहिये, जिससे बुढ़ापा चैन से कट सके । परिवार को बैठे–ठाले ब्याज–भाड़े की आमदनी से निर्वाह करते रहने का अवसर मिले । उन्हें व्यय की व्यवस्था बनाने के लिये परिश्रम पुरुषार्थ न करना पड़े ।

यह दृष्टिकोण आकर्षक और निश्चिन्तता उत्पन्न करने वाला उचित प्रतीत होता है, पर है यह अर्थशास्त्र के सर्वथा विपरीत । संसार में दौलत सीमित मात्रा में है । वह इतनी है कि सभी लोग अपनी जरूरतें पूरी करते रहें, जीवन की नाव खेते रहें । प्रकृति इतना ही उत्पादन करती है । अमीर बनने का अर्थ है दूसरे असंख्यों को गरीबी की स्थिति में रहने के लिये विवश करना, स्वयं परिश्रम न करना, अपनों को न करने देना अर्थात् उनके बदले का काम अतिरिक्त रूप से दूसरों पर लादने का माहौल बनाना । उत्पादनके साथ श्रम जुड़ा हुआ है । यह श्रम आमतौर से निर्वाह के साधन जुटाने के लिये ही किया जाता है । हर उपभोक्ता को अपनी आवश्यकतायें जुटाने के अनुरूप श्रम भी करना चाहिये । अमीरी का दर्शन इस स्वाभाविकता के सर्वथा विपरीत है । अमीर उपभोग के लिये ही नहीं, संग्रह के लिये भी दौलत चाहता है । साथ ही उसकी इच्छा यह भी होती है कि उपार्जन के लिये कठोर श्रम न करना पड़े । यह प्रकृति विरुद्ध इच्छा कैसे पूरी हो । इसके लिये उसे जो तरीके अपनाने पड़ते हैं, उसमें से अधिकांश

अनैतिक होते हैं । साथ ही निष्ठुर व्यक्ति ही अधिकाधिक खर्च करने की बात सोच सकता है, क्योंकि हर किसी के लिये सामाजिक ऋण चुकाना भी आवश्यक है । इसके लिये उदारता अपनाने, पिछड़ों को उठाने के लिये सहायता करने की आवश्यकता पड़ती है । जो उस ओर से आँखें बन्द किये रहेगा, उसी के लिये यह संभव है कि विलासी और संग्रही बने ।

व्यक्ति पूर्णतया आत्म-निर्भर नहीं है । उसे दूसरे असंख्यों की सहायता से अपना संतुलन बिठाना पड़ता है । अन्न, वस्त्र, औषधि, शिक्षा, शिल्प आदि कोई व्यक्ति मात्र अपने प्रयत्न से प्राप्त नहीं कर सकता । प्रयुक्त होने वाली प्रायः सभी वस्तुएँ दूसरों द्वारा विनिर्मित होती हैं । उन्हें भले ही मूल्य देकर खरीदा गया हो, पर हैं निश्चित रूप से ऐसी, जिन्हें स्वयं विनिर्मित नहीं किया जा सकता । सुई से लेकर कलम तक हर वस्तु विनिर्मित होने में असंख्यों का श्रम और कौशल जुड़ा होता है । उनकी पूरी कीमत कोई नहीं चुका सकता । खरीदने में जो दिया जाता है, वह तो प्रतीक पात्र है । उसे सामाजिक अर्थव्यवस्था भी कह सकते हैं, पर मात्र उतना देकर पूरी तरह कोई उऋण नहीं हो सकता है । इसके लिये समूचे समाज का हमें कृतज्ञ होना चाहिये । अन्य लोगों के कौशल का लाभ तो उठाते रहा जाय, किन्तु अपने अनुदान से समाज का हित करने में कृपणता बरती जाय, तो वह कृतघ्नता भी होगी और निष्ठुरता भी ।

कोई व्यक्ति उचित खर्च से अधिक कमाता है, तो विश्व परिवार का सदस्य होने के नाते हर व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि उस बचत को उनके लिये खर्च करे, जो अभी भी पिछड़ी हुई स्थिति में पड़े हुए हैं । दो नालियों के बीच यदि एक नीची बना दी जाय, तो ऊँचा पानी नीची की ओर बहने लगेगा और बहाव तब तक जारी रहेगा, जब तक कि सतह एक-सी नहीं हो जाती । मनुष्य जाति में भी यही प्रथा

परम्परा चलनी चाहिये कि ऊँची उठी हुई स्थिति वाले अपने साधनों को उन्हें देते रहें, जो नीचे हैं, पिछड़े हैं । यह भी दैनिक आवश्यकताओं में सम्मिलित होना चाहिये । इसे भी कर्तव्य और दायित्व समझना चाहिये ।

दूसरे के घर में पली, बढ़ी वयस्क लड़की जब अपने घर वधू रूप में मुफ्त मिल सकती है, तो अपना भी फर्ज हो जाता है कि पुत्री को दूसरे का घर संभालने के लिये उसी प्रकार दे दें । पाने की तरह देना भी आवश्यक है । यही प्रकृति परम्परा है । हमें भी इसका निर्वाह करना चाहिये । समाज के ऋण से ऋणी मनुष्य के लिये यह भी उचित है । उस समुदाय को सुखी समुन्नत बनाने के लिये अपने उपार्जन का, साधन का एक बड़ा हिस्सा अन्यों के लिये अनुदान स्वरूप प्रदान करें । तृष्णा के दलदल में फँसा हुआ व्यक्ति यह नहीं कर सकता । उसकी निजी हविश ही इतनी बढ़ी–चढ़ी होती है कि अपने उपार्जन के अतिरिक्त अन्यों के अधिकार हड़पने के उपरान्त भी उसकी पूर्ति न हो सके । फिर देने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

मनुष्य की संरचना ऐसी है कि वह एक सीमित मात्रा में ही साधनों का उपयोग कर सकता है । पेट भरने के लिये प्रायः सीमित मात्रा में ही आहार लिया जाता है । तन ढकने को कपड़ा भी सीमित मात्रा में ही अभीष्ट होता है । विस्तार की परिधि भी समान होती है । इतना ही हजम भी हो सकता है । जो अति मात्रा में हड़पेगा, वह चोर की तरह दण्ड भुगतेगा । अधिक आहार, अधिक वस्त्र, अधिक विस्तर का प्रयोग करने पर सुविधा के स्थान पर संकट ही खड़ा होगा ।

धन के सम्बन्ध में भी यही बात है । सर्व साधारण की तुलना में जिसके पास भी अधिक होगा, वह अनेकों मुसीबतों में घिरेगा । ईर्ष्यालु इसे चैन से न बैठने देंगे और नीचा दिखाने के षड्यंत्र बनाते रहेंगे । कर्ज और चन्दा माँगने वाले, हिस्सा

बँटाने वाले अपने-अपने ढंग की घात चलेंगे । अत्यधिक उपयोग दुर्व्यसनों में हो सकता है । नशेबाजी आवारागर्दी, शेखी जैसी कुटेवें पीछे लगेंगी । व्यभिचार की दिशा में कदम बढ़ेंगे । चापलूस, ठग, मित्र बनकर शत्रु जैसी घात करेंगे । मुकद्दमेबाजी, बीमारी, अय्याशी जैसे कामों में पैसा पानी की तरह बहेगा । इस प्रकार खोटी कमाई खोटे रास्ते ही अपने आप चले जाने की राह बना लेगी । अपने पल्ले हर घड़ी उद्विग्न रहने की स्थिति ही बनी रहेगी । आन्तरिक अशान्ति से शारीरिक और मानसिक क्षेत्र खोखले बनते हैं और गरीबों की अपेक्षा कहीं अधिक जल्दी संसार से बिस्तर गोल करना पड़ता है ।

यह सोचना व्यर्थ है कि सन्तान पर अधिक खर्च करने, अधिक सुविधा देने से वे समुन्नत बनेंगे या देने वाले के प्रति कृतज्ञ रहेंगे । तृष्णा अपने तक ही सीमित नहीं रहती, वह उत्तराधिकारियों तक भी चली जाती है । वे प्रयत्न करते हैं कि जो कुछ पूर्वजों के पास है, वह अधिक जल्दी मिल जाय । इसलिये उन्हें वृद्ध अभिभावकों को निःस्वत्व बनाना पड़ता है, ताकि उन्हें मिलने वाली राशि कहीं अन्यत्र न चली जाय । मन ही मन उनके मरने की कामना करते हैं, ताकि जो देर से मिलना है, वह जल्दी ही मिल जाय । देखा गया है कि बाप-दादों की सम्पदा के बँटवारे पर आये दिन कलह मचते, मुकद्दमे चलते और खून-खराबी तक के षड्यंत्र बनते हैं । इस प्रकार जिनके सुख के लिये कठोर परिश्रम ही नहीं, अनाचार भी अपनाया था, परमार्थ हेतु कलेजे को पत्थर जैसा कठोर बनाकर रखा गया था, वे भी उसका अहसान नहीं मानते, वरन् अपना हक कहते हैं और कम देने का अन्यत्र खर्च कर देने का इल्जाम लगाते हैं । उनका स्वभाव और चरित्र भी गये-गुजरे स्तर का बन जाता है, जिसके कारण वे स्वावलम्बी, सदाचारी और प्रगतिशील बनने से वंचित ही रह जाते हैं । मुफ्त की सम्पदा किसी को हजम नहीं होती । वह

पारे की तरह फूट-फूटकर निकलती है । पचती वही है, जो मेहनत और सही रास्ते से कमायी गयी है । सन्तान को मौज करने की इच्छा से जो सम्पदा जोड़ते हैं, वे अपनी आँखों से ही उसकी व्यर्थता और दुष्परिणति देखते हैं, जिनके लिये बचपन में लाड़-दुलार में अन्धाधुन्ध खर्च किया गया है, वे बड़े होने पर फिजूलखर्ची की आदत से इस प्रकार जकड़ जाते हैं कि उन्हें सदा अभावग्रस्त स्थिति ही दीखती रहती है । उस गड्ढे को भरने के लिये उचित-अनुचित सभी कुछ बटोरते और फिजूलखर्ची में उड़ाते हुए सदा खाली हाथ रहते हैं ।

तृष्णा का कुचक्र इतना बड़ा, इतना अशान्त और इतना भयानक है कि उसे अपनाकर मौज-मजा करने के दिवास्वप्न निष्फल ही सिद्ध होते रहते हैं ।

शरीर के सभी अंग सन्तुलित हों, तभी सुन्दर-सुडौल बनते हैं । सब अंग सामान्य हों और कोई एक अवयव फूला हुआ, सूजा हुआ, बढ़ा हुआ हो, तो वह स्वयं तो कुरूप लगेगा ही, समूचे शरीर की शोभा बिगाड़ देगा । सामान्य लोगों के बीच एक व्यक्ति असामान्य होकर रहे, तो वह प्रशंसा का पात्र नहीं बनता और न सम्मान पाता है, वरन् निन्दा और ईर्ष्या का भाजन बनता, अनेकों लांछन ओढ़ता है, स्वार्थी, कृपण निष्ठुर आदि समझा जाता है । कोई जमाना था, जब अमीरों को भाग्यवान पूर्वजन्म का पुण्यात्मा समझा जाता था, पर अब तो बात बिल्कुल उल्टी हो गयी है । साम्यवादी सिद्धान्तों की पैठ मन में गहराई तक हो गयी है । सम्पन्नों को शोषक-बेईमान आदि के लांछन ही सहने पड़ते हैं । सबसे बड़ी बात यह है कि तृष्णातुर व्यक्ति अपनी समूची सम्पत्ति स्वार्थ सिद्धि में ही लगा देता है । परमार्थ के नाम पर कुछ ठोस कदम उसकी संकीर्णता उठाने ही नहीं देती, झूठी वाहवाही लूटने के लिये कुछ अपवाद भले ही करता रहे ।

अहंकार में घाटा ही घाटा

स्व के विकृत बोध को ही अहंकार कहते हैं । वह आत्म तत्व से न जुड़कर भौतिक सम्पदाओं के साथ जुड़ा होता है । दूसरों की तुलना में अपने को विशिष्ट मान बैठने पर अहंता की उत्पत्ति होती है । बलिष्ठता, सुन्दरता, सम्पन्नता, पद, अधिकार आदि उसके कारण हो सकते हैं । कई बार भ्रम भी उसका निमित्त बना हुआ होता है । जाति–पाँति के आधार पर कई अपने को ऊँचा मानते हैं । इस आधार पर दूसरे नीच या हेय प्रतीत होने लगते हैं और अहंकार जड़ जमा लेता है ।

अपनी अहंता प्रकारान्तर से दूसरों को हेय या हीन गिनने लगती है । अपनी मान्यता को दूसरों को गले उतारने के लिये वह अपने साधनों का उद्धत प्रयोग करती है, ताकि उनकी ओर अन्यान्यों का ध्यान आकर्षित हो, वे उसे देखें, समझें और बड़प्पन स्वीकार करें । इस प्रकार की स्वीकृति तभी बन पड़ती है, जब उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिले । साधारण स्थिति बनी रहने पर तो ध्यान उस ओर जाता नहीं । इसलिये कुछ न कुछ उद्धत आचरण अहंकारी को करना पड़ता है, अन्यथा दूसरे क्यों उसका बड़प्पन स्वीकार करें ? क्यों दबें ? क्यों डरें ? क्यों गिड़गिड़ायें ? क्यों ललचायें ? अहंकार इस हेतु उद्धत आत्म–प्रदर्शन किये बिना नहीं रहता । कुछ नहीं तो आत्मश्लाघा सहित अपना बखान स्वयं ही करने लगता है । ऐसी घटनाओं का सच्चा–झूठा वर्णन करता है, जिससे उसकी छाप सुनने पर पड़े और समीपवर्ती उसका लोहा मानने के लिये बाधित हों । इस कार्य के लिये हर घड़ी तो प्रशंसा–कृत्य के लिये साथी–सेवक रखे नहीं जा सकते । इसलिये आतुरता इस रास्ते फूटती है कि अपनी बात या क्रिया में ऐसा पुट लगा

रहे, जिसमें उसकी विशिष्टता से दूसरों को अवगत होते रहना पड़े । जब कभी अपने साथ तुलना करें, तो समझें कि इनकी स्थिति मेरी अपेक्षा कहीं अच्छी है । इसलिये इनके सामने मुझे दबकर रहना चाहिये । यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो अहंकारी इसमें अपना अपमान मानता है, तिरस्कृत–उपेक्षित अनुभव करता है, इसमें मानहानि की गंध सूँघता है और जिसने महत्ता स्वीकारने में उपेक्षा दिखाई, उसे अपना शत्रु तक मानने लगता है । इसका बदला वह नीचा दिखाने का अवसर ढूँढ़कर करता है । जो हाँ में हाँ न मिलाये, जी हुजूरी न करे, उसके साथ वह ऐसा व्यवहार करता है, ऐसी चाल चलता है, जिससे उसे तिलमिलाने का दण्ड भुगतना पड़े । अहंकारी के पास स्नेह–सौजन्य नहीं रहता । सज्जनता, विनयशीलता, नम्रता का तो अस्तित्व ही नहीं रहा । नशे की खुमारी जिस प्रकार पियक्कड़ को अस्त–व्यस्त अनगढ़ बना देती है, लगभग उससे मिलती–जुलती स्थिति अहंकारी की बन जाती है । यह असामान्य स्थिति, मिथ्या प्रवंचना उसके लिये अन्ततः घातक सिद्ध होती है, जो इस रंग में अपने को रंग लेता है, सनक की तरह इस दुर्गुण को अपना लेता है ।

अहंकार हल्की मात्रा में हो या बड़ी मात्रा में, उसका प्रभाव दूसरों पर बुरा ही पड़ता है, उसे उद्धत माना जाता है, सनकी समझा जाता है, प्रकट या अप्रकट में उसके प्रति अन्यों की मान्यता घृणा मिश्रित होती है, व्यक्तित्व का वजन उथले–बचकाने स्तर का समझा जाने लगता है । वस्तुस्थिति छिपी तो रहती नहीं, सभी जानते हैं कि किसी के पास कोई विशेषता है, तो वही उसका लाभ उठाता रहेगा । अन्यों को उसमें भागीदारी नहीं मिलने वाली है । ऐसी दशा में कोई क्यों उसका लोहा माने ? क्यों दबाव स्वीकार करे ? क्यों मिथ्या आत्मश्लाघा का पोषण करे ? अपने को किसी के सामने गया–'गुजरा मानने में उसकी भी तो हेटी होती है । ऐसी दशा में अहंकारी का सारा सम्पर्क क्षेत्र तनाव से भर जाता है ।

पियक्कड़ को देखकर लोग आत्म रक्षा के लिये चौकन्ने हो जाते हैं । उससे बचकर निकलते हैं । उसी प्रकार अभिमानी के प्रति सर्वसाधारण की मान्यता पाखण्डी जैसी बन जाती है । उसके साथ सहयोग करना तो दूर, सम्पर्क करने वालों में से हर एक की इच्छा होती है कि इस बला से जितनी दूर रहा जाय, उतना ही अच्छा । न उसका कोई हितैषी रहता है, न मित्र, न घनिष्ठ । मात्र चापलूस ही उसकी हाँ में हाँ मिलाकर उल्लू बनाते और साथ ही अपना कोई अनुचित स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं । उनकी पटरी ऐसे ही लोगों के साथ बैठती है । बार-बार ठगे जाते हैं । फिर भी अन्यत्र कहीं सहारा न मिलने के कारण ऐसे ही चाटुकारों के पास जा पहुँचते हैं और प्रकारान्तर से उन्हें रिश्वत देते या ठगे जाते रहते हैं ।

अहंकार एक भ्रान्ति है, जो आत्म प्रदर्शन के लिये पग-पग पर पाखण्ड रचने के लिये-प्रेरित करती है । जिनमें वस्तुतः कुछ विशेषतायें होती हैं, जो वस्तुतः साधन-सम्पन्न, गुणवान या वरिष्ठ होते हैं, उनमें सज्जनता भी सहज ही साथ रहती है । सज्जनता का पहला लक्षण है-नम्रता, शिष्टता । दूसरा गुण है-हर किसी को यथोचित सम्मान प्रदान करना । जिनमें इनमें से एक भी गुण न हो, उसकी गणना दुर्जनों में होती है । मानवी गरिमा की दृष्टि से उसे गया-गुजरा माना जाता है । इस तथ्य से जो अवगत है, उसी को यथार्थवादी या बुद्धिमान कहा जाता है । इसलिये सज्जन अपने में इन तीनों ही विशेषताओं को समुचित मात्रा में अपनाये रहकर अपना दृष्टिकोण और स्वभाव उसी ढाँचे में ढाल लेते हैं । उन्हें अभिमान आत्मघात जैसा प्रतीत होता है और उससे बचे रहने का सतर्कतापूर्वक प्रयत्न करते हैं । आत्म-निरीक्षण करते हुए पैनी दृष्टि से यह जाँचते रहते हैं कि कहीं अहंकार ने व्यक्तित्व के किसी पक्ष में डेरा डालना तो आरंभ नहीं कर दिया । यदि किसी भी मात्रा में ऐसा हो रहा होता है, तो वे उसे हटाने के लिये बड़ा प्रयत्न करते हैं । इस दुस्स्वभाव को

पतन का गर्त मानकर उसमें गिरने से बचे रहते हैं ।

यह दुर्गुण कई बार इतने दबे पाँव आता है कि व्यक्तित्व पर अधिकार जमा लेने पर भी पकड़ में नहीं आता । फिजूलखर्ची के पीछे यही भावनायें काम करती हैं । अमीरी का विज्ञापन करके यह जताया जाता है कि वह सफल और चतुर व्यक्ति है, अन्यथा इतनी सम्पदा इसके पास कहाँ से आती, जो सामान्य खर्च की पूर्ति करने के उपरान्त उफनती और बर्बाद होती फिरे । ठाठ-'बाट ऐसे ही लोग जमा करते हैं । होटलों और क्लबों में ऐसी ही लोगों की घुसपैठ होती है । दावत देने, सैर-सपाटे पर निकलने के पीछे उनका मंशा यही होता है कि दूसरे लोग समझें कि यह सामान्य नहीं, असामान्य स्तर के हैं । फोटो छपाने की ललक ऐसे ही लोगों की होती है । अपनी कृतियों का बढ़ा-चढ़ाकर ढिंढोरा पीटने-पिटवाने के बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता । अहंकार का जाल-जंजाल ऐसा है, जिसमें फँस जाने वाला अपनी वास्तविक शक्तियों का इस प्रकार उद्धत प्रयोग करता है कि घाटा निरन्तर बढ़ता ही चले । जो कुछ पास में था, उसका सदुपयोग करके कुछ बना और बढ़ा जा सकता था, वह आत्म-प्रदर्शन के कुचक्र में ही बर्बाद हो जाता है । अहंकारी हर दृष्टि से घाटा ही घाटा उठाता है ।

जिस प्रकार दर्पण में देख कर चेहरे की गंदगी साफ कर ली जाती है, उसी प्रकार आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने चिन्तन और व्यवहार का निरीक्षण-परीक्षण करके यह देखना चाहिये कि स्वभाव में अहमन्यता के दुर्गुण का समावेश तो नहीं होने लगा, नम्रता, शिष्टता और सज्जनता का स्तर घटने तो नहीं लगा, प्रदर्शन की ललक ने अन्तराल में अड्डा जमाना तो आरंभ नहीं कर दिया । यदि ऐसा हो, तो उचित यही है कि समय रहते आत्म-शोधन कर लिया जाय ।

आलस्य-प्रमाद को जीतें, हर क्षेत्र में सफल बनें

मनुष्य की समग्र संरचना शरीर और मन के सम्मिश्रण से होती है । इन दोनों का जो जितना सदुपयोग कर सकता है, वही अपने लिये सम्पदायें और सफलतायें अर्जित करता है, साथ ही अपने समय और जनसमुदाय के लिये कहने लायक सुख-सुविधायें उत्पन्न करता है, स्वयं प्रगति पथ पर चलता है और अन्य असंख्यों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में असाधारण रूप से सहायक सिद्ध होता है; किन्तु जो इन दोनों ईश्वर प्रदत्त विभूतियों को ऐसे ही उपेक्षित पड़ी रहने देता है, या उनका दुरुपयोग करता है, वह हानि भी कम नहीं उठाता है । उससे प्रभावित लोग भी कम हानि नहीं उठाते ।

समूचा मनुष्य समाज प्रकारान्तर से एक श्रृंखला में बँधा हुआ है । व्यक्ति के कृत्यों का वह स्वयं तो परिणाम भोगता ही है; पर सम्पर्क क्षेत्र भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । यह प्रक्रिया समय एवं स्थान पर सीमाबद्ध नहीं रहती, वरन् यदि वह महत्वपूर्ण हो, तो लम्बे समय तक अपना प्रभाव छोड़ती है और सुविस्तृत परिधि को अपनी लपेट ले में लेती है ।

शरीर की सार्थकता इसमें है कि जितनी उसमें क्षमता है, उसके अनुरूप उससे काम लिया जाय । उसे आलस्य में, अर्ध-मृतकों या अर्ध-मूच्छितों की तरह तंद्राग्रस्त स्थिति में न पड़े रहने दिया जाय । इस स्थिति को आलस्य कहते हैं । आलस्य को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु माना गया है । वह परोक्ष रूप से वह हानि पहुँचाता है, जो हाथ-पैर कसकर किसी को बन्दीगृह में डालने पर पहुँचायी जा सकती है ।

मन का कर्तव्य और उत्तरदायित्व यह है कि वह शरीर के साथ मिलकर अपने लिये सुनिश्चित कार्य पद्धति निर्धारित करे । फिर जो कुछ भी करना है, उसमें पूरी दिलचस्पी और

एकाग्रता के साथ जुट पड़े । जिसका मन हवा में उड़ने वाले पत्ते की तरह जिधर-तिधर, अस्त-व्यस्त मारा-मारा फिरता है, किसी उपयोगी काम पर जमता नहीं, समझना चाहिये कि वह जिस काम से सम्बन्ध जोड़ेगा, उसे बर्बाद करके रहेगा । हर काम, सफलता की मंजिल तक पहुँचने के लिये समुचित शारीरिक श्रम चाहता है और साथ ही इसकी भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है कि उसमें परिपूर्ण मनोयोग लगे । काम छोटा हो या बड़ा, उसकी सफलता के लिये शारीरिक तत्परता और मानसिक तन्मयता की आवश्यकता रहेगी । इन दोनों में जहाँ एक की भी कमी पड़ेगी, समझना चाहिये कि पैर असफलता की दिशा में उठ रहे हैं ।

शरीर को श्रम से बचाने का नाम है-आलस्य और मन को निर्धारित काम की उपेक्षा करके जहाँ-तहाँ दौड़ाने की दुष्प्रवृत्ति का नाम है-प्रमाद । जहाँ इन दोनों का संयोग मिल जाय, वहाँ समझना चाहिये कि समय की बर्बादी और काम की असफलता दोनों साथ-साथ चलेंगी और मनुष्य ऐसा कुछ भी न कर सकेगा, जिसे महत्वपूर्ण या सराहनीय कहा जा सके ।

कुछ लोग विलासी प्रकृति के होते हैं । आरामतलबी उन्हें बहुत सुहाती है । समय काटने के लिये मनोरंजन का कोई शुगल ढूँढ़ते हैं । बेकार पड़े रहने से तो पीठ दुखने लगती है, इसलिये आलसी लोग भी आवारागर्दी के लिये निठल्ले यार-दोस्तों का जमघट लगाते हैं, उनकी आव-भगत के लिये पैसा खर्च करते हैं; अपने साथ-साथ ही घर वालों को उस कुटेव का आदी बनाते हैं । मनोरंजन के कुछ साधन तो ऐसे होते हैं, जो घर पर भी जुट सकते हैं । ताश, चौपड़, शतरंज आदि घरेलू मनोरंजन हैं । सिनेमा, पर्यटन, शिकार जैसे माध्यम ऐसे हैं, जिनके लिये घर से बाहर जाना पड़ता है । इनके साथ दुर्बुद्धि का और गहरा पुट लगने लगे, तो नशेबाजी, जुआ, व्यभिचार जैसी बुराइयाँ भी शामिल हो जाती हैं । यह सभी खर्चीली हैं । आलसी व्यक्ति इन प्रयोजनों में अपनी संचित

पूँजी गँवा बैठते हैं या फिर जहाँ–तहाँ से कर्ज लेते हैं । यह सभी परिस्थितियाँ ऐसी हैं, जो कुछ ही दिन में आदत का रूप धारण कर लेती हैं और फिर छुड़ाये नहीं छूटतीं । ऐसे लोगों को कभी कोई सही उत्तरदायित्व सँभालने की विवशता आ पड़े, तो वे उन्हें आधे–अधूरे छोड़कर निरर्थक समय गँवाने वाली पुरानी आदतों की ओर भटक जाते हैं और जो काम करना था, वह जहाँ का तहाँ पड़ा बर्बाद होता रहता है । इस प्रकार छूटे हुए काम मनुष्य का मनोबल गिराते हैं और बदनामी कराते हैं । फिर नये शिरे से किसी काम को करने के लिये न उत्साह उठता है और न कोई उन्हें जिम्मेदारी सौंपता ही है । ऐसे निरर्थक समय गँवाने वाले परिवारियों, सम्बन्धियों और शुभचिंतकों की दृष्टि में क्रमशः क्षोभ और घृणा के पात्र बनते जाते हैं ।

विचारशीलता का तकाजा यह है कि थकान मिटाने के लिये जितने विश्राम की आवश्यकता है, उसे छोड़कर शेष समय निर्धारित काम में पूरे परिश्रम के साथ जुटा रहे । सुलझे हुए मन का काम यह है कि ऐसे कार्यक्रम का निर्धारण करे, जिसमें शरीर और मन दोनों को परिपूर्ण काम मिले, साथ ही आजीविका उपार्जन के अतिरिक्त सद्गुणों को बढ़ाने का अवसर मिले । जीवन की नियमित कार्य पद्धति में ऐसे तथ्यों का भी समावेश होना चाहिये, जिनमें लोकहित, जनकल्याण, सत्प्रवृत्ति संवर्धन का भी समुचित समावेश हो ।

किसी काम की शोभा सफलता तभी बनती है, जब उसमें शरीर की तत्परता और मन की तन्मयता का समान रूप से समावेश हो । यही वह स्थिति है, जिसमें आलस्य और प्रमाद से पीछा छुड़ाकर सर्वतोभावेन निर्धारित कृत्य या लक्ष्य में जुटा जाता हो । निर्धारण सांसारिक, आध्यात्मिक, स्वार्थपरक या परमार्थिक कैसा ही भला–बुरा क्यों न हो, पर उसकी सफलता के लिये परिश्रम और मनोयोग का समान रूप से नियोजन होना चाहिये ।

यों आवश्यकता तो हर काम में साधनों की भी पड़ती है, पर उन्हें जुटा पाना या न जुटा सकना इतना महत्व नहीं रखता, जितना कि श्रम और मनोयोग । यह हर किसी के पास समान रूप से विद्यमान है । यह ईश्वर प्रदत्त है । इसे निखारने भर की आवश्यकता है । अभ्यास से वे सहज ही कार्यरत होना सीख लेते हैं । इसके उपरान्त प्रवीणता एवं कुशलता भी बढ़ जाती है । अन्य भली-बुरी आदतें भी अभ्यास से ही विकसित होती हैं । आरम्भ में शरीर और मन तन्मयता का दबाव स्वीकार करने में अनख मानते हैं; किन्तु जब उन्हें आदेश-अनुशासन मानने के लिये विवश किया जाता है, तो थोड़े ही दिनों में उन्हें 'प्रयासरत होने में भी रस आने लगता है । खाली बैठना या आधा-अधूरा काम करना स्वयं अपने आप को भी बुरा लगता है । आलस्य-प्रमाद से होने वाली हानियाँ समझ में आती हैं और उन्हें अपनाने में लज्जा प्रतीत होती है । संसार में सभी प्रगतिशील मनुष्य श्रमशीलता और एकाग्रता के आधार पर ही प्रवीणता सम्पन्न हुए हैं और लक्ष्य तक पहुँचे हैं ।

साधनों का महत्व तो है, पर यदि आरम्भ में किसी के पास न हो, तो स्वल्प साधनों से भी कार्य आरम्भ किया जा सकता है । वे धीरे-धीरे भी जुटते रहते हैं । बया पक्षी आकार में बहुत छोटा होता है, पर अपना सुन्दर और सुदृढ़ घोंसला बनाने के लिये तदनुरूप तिनके जहाँ-तहाँ से चयन कर लेता है । इसके लिये ढूँढ़-खोज करने में उसे भाग-दौड़ तो बहुत करनी पड़ती है; किन्तु अन्ततः सभी सामग्री उसे देर-सबेर में मिल ही जाती है । तिनकों को मजबूती से बाँधने के लिये उसे घोड़े की पूँछ के लम्बे और मजबूत बालों की आवश्यकता पड़ती है । इसे वह न तो खरीदती है, न उधार माँगकर लाती है । अपनी होशियारी से पूँछ पर जा बैठती है और काट कर लाती है । यह घोड़ा उसका खरीदा हुआ नहीं होता । वह अपनी पैनी नजर से यह पता लगा लेती है कि अभीष्ट साधन

कहाँ है और बाल प्राप्त करने के लिये कितनी चतुरता का प्रयोग करना पड़ेगा । ठीक यही बात अन्य सबको अपने-अपने कार्यों के उपयुक्त साधन जुटाने के लिये करना पड़ता है । यह संयोग की बात है कि किसी को साधन जुटाने में सरलता से काम बन जाता है और किसी को एड़ी-चोटी का पसीना एक करना होता है । पुरुषार्थ की कसौटी पर जो जितना अधिक घिस जाता है, वह उतना ही खरा उतरता है । साधनों के अभाव में कभी किसी का काम रुका नहीं रहा है । योग्यता और तत्परता देखकर साधन सम्पन्न उन्हें सहायता करने में अपना भी लाभ देखते हैं और उसी पूँजी को कई गुनी वापिस लौटा लेते हैं ।

सफल मनोरथ व्यक्तियों की जीवनचर्या का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय, तो उनमें से प्रत्येक को घोर परिश्रमी और समग्र तन्मयता नियोजित करने की कला में प्रवीण पाया जायगा । ऐसे व्यक्तियों के द्वारा सम्पन्न हुए काम कलात्मक और सुनियोजित होते हैं । इस प्रकार का अभ्यास करने वाले आलस्य और प्रमाद रूपी दोनों शत्रुओं से बच सकते हैं और उनके द्वारा होने वाली अगणित हानियों के कुचक्र में भी नहीं फँसते । छोटे कामों को सही रीति से सम्पन्न करने वाले आगे चलकर बड़े-बड़े काम कर गुजरने की व्यवस्था बुद्धि अपने भीतर से ही उपार्जित कर लेते हैं; जबकि काम से जी चुराने वाले और जिम्मेदारी की उपेक्षा करने वाले अपनी और दूसरों की आँखों से दिन-दिन गिरते जाते हैं । मनोबल गँवा बैठने पर मनुष्य की प्रतिभा का पलायन हो जाता है । साहस टूट जाता है और कुशलता अर्जित करने का सुयोग ही नहीं बन पाता । ऐसे लोग अपना मूल्य गिरा लेते हैं और उनके द्वारा जो काम बन पड़ता है, वह भी गये-गुजरे मूल्य का फूहड़ एवं आधा-अधूरा, काना-कुबड़ा एंव अस्त-व्यस्त ही होता है । ऐसी दशा में काम का ही नहीं, उसके कर्त्ता का भी उपहास होता है ।

ईश्वर ने मनुष्य को अनोखी विशेषताओं वाली काया प्रदान की है । ऐसे हाथ और किसी प्राणी को नहीं मिले । मन भी ऐसा मिला है, जो दूरदर्शिता और विवेकशीलता की दृष्टि से अद्भुत है । उसके गुण-कर्म-स्वभाव यदि परिष्कृत स्तर के हों, तो अनेकों का सहयोग अप्रत्याशित ढंग से खिंचता चला आता है; अभ्यास में जुट पड़े तो वह भी किसी काम में प्रवीणता प्राप्त कर सकता है । प्रश्न केवल उपलब्धियों का सदुपयोग करने भर का है । यह मनुष्य का अपना काम है कि क्षमताओं का सदुपयोग करके उन्नति के उच्च शिखर पर जा पहुँचे या फिर उन्हें आलस्य प्रमाद के कूड़े-करकट में पड़ी रहने देकर जो मिला है, उसको गँवा बैठे और निन्दा उपहास का कारण बने । जिसने आलस्य प्रमाद को जीत लिया, समझना चाहिये कि उसने अपने उज्ज्वल भविष्य का पथ प्रशस्त कर लिया । ऐसे ही लोग यशस्वी बनते हैं और अपने कर्तृत्व की असंख्यों को अनुकरणीय प्रेरणा देते हैं ।

भव-बन्धनों से मुक्ति और स्वर्ग प्राप्ति

बन्धन और मुक्ति कहाँ है ? स्वर्ग और नरक कैसा है ? यह जानने के लिये किसी स्थान विशेष को तलाश करने की दौड़-धूप पूछताछ करने की आवश्यकता नहीं है । उन्हें अपने भीतर देखा जा सकता है । देखा ही नहीं, अनुभव भी किया जा सकता है ।

दोनों का वर्णन-विवरण एक-दूसरे से भिन्न है । तो भी वे इतने सटे हुए हैं कि उनकी दीवार से दीवार मिली है । अन्तर इतना ही है कि एक का मुँह पूरब को है तो दूसरे का उससे उलटी दिशा पश्चिम को है । एक सिरा स्वर्ग जैसे आनन्द और देवतत्वों की भरमार से जुड़ा है, दूसरा उसके ठीक विपरीत है, वह नरक की यातना और असह्य यंत्रणा और सिर चकराने वाली दुर्गन्ध से भरा है ।

दोनों में से किसी को चुनने के लिये मनुष्य स्वतंत्र है । किसी पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं है कि कौन किस क्षेत्र में प्रवेश करे । जिसका जिधर मन हो, वह उधर जाने वाली सड़क को स्वेच्छापूर्वक अपना सकता है और उस पर चल सकता है । प्रवेश भी प्रतिबंधित नहीं है । जिसमें भी प्रवेश करना हो, खुशी-खुशी घुसा जा सकता है । प्रवेश पाने और निवास करने पर उन परिस्थितियों का सामना तो करना ही पड़ेगा, जो उस क्षेत्र के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं ।

काया और आत्मा यह दोनों ही तत्त्व मिलकर जीवन बनाते हैं । इनके पारस्परिक सहयोग से ही निर्वाह होता है । दोनों के बीच संतुलन बना रहे, उनमें से प्रत्येक को उचित स्थान, सम्मान और पोषण मिले तो फिर दो पहियों की गाड़ी की तरह जीवन-क्रिया सही दिशा में निर्बाध रूप से चलती रहती है, उसमें न व्यतिक्रम होता है, न व्यवधान पड़ता है ।

कठिनाई तब पड़ती है जब भ्रमितों की तरह कुछ को कुछ समझने की भूल होती है । भटकने वाली पगडण्डी पकड़ी जाती है और कुछ ही दूर चलने पर कँटीले झाड़-झंखाड़ों में उलझ जाने की परिस्थिति बन जाती है ।

जीवन दो साझीदारों का सम्मिलित व्यवसाय है । दोनों का समान श्रम और समान पूँजी निवेश होना चाहिये । दोनों का अधिकार भी औचित्य की सीमा में रहना चाहिये और लाभांश का बँटवारा भी न्यायोचित होना चाहिये । यदि यह रीति-नीति ठीक प्रकार चलती रहे, तो विग्रह का अवसर खड़ा न हो और हम मानवी गरिमा के उस स्तर पर जमे रहें, जिसे देवोपम कहा जाता है । बात तब बिगड़ती है, जब एक पक्ष को सब कुछ बना दिया जाता है और दूसरे पक्ष की अवज्ञा की जाती है । यह भूल आमतौर से इस प्रकार होती है कि दर्पण में दीखने वाले प्रत्यक्ष काय कलेवर को ही सब कुछ मान लिया जाता है और श्रेय-सुविधाओं का सारा परिकर उसी के सुपुर्द कर दिया जाता है । शरीर की सुख-सुविधा, आकांक्षा और प्रगति को अतिशय महत्व देने का प्रतिफल यह होता है कि आत्मा को जो पोषण मिलना चाहिये, वह नहीं मिलता । अतः आत्मिक क्षेत्र में दरिद्रता, विपन्नता भर जाती है । शरीर ही अपनी लिप्सा, लालसाओं को उपयोग करता रहता है । उसकी स्वाभाविक प्रकृति पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की तरह अधोगामी है । विलास और वैभव को वह इतनी अधिक मात्रा में चाहने, माँगने लगता है, जो उसकी वास्तविक आवश्यकता से कहीं अधिक है । उसे जुटाने में आत्मा का पक्ष विस्मृत एवं उपेक्षित हो जाता है । आदर्शों के प्रतिपालन की बात विस्मृत हो जाती है और लोभ, मोह, अहंकार की पूर्ति के लिये वह किया जाने लगता है, जिसमें औचित्य का प्रत्यक्ष व्यतिक्रम है ।

शरीर और आत्मा हैं तो सहयोगी और एक ही घर में रहते हैं । वे चाहें, तो सामंजस्य बनाकर भी निर्वाह कर सकते

हैं; पर होता इसके विपरीत है । शरीर प्रत्यक्ष है, आत्मा परोक्ष । प्रत्यक्ष में प्रतीति होती है और परोक्ष के बन्धन में मोटी बुद्धि सही निर्णय नहीं कर पाती । उसका महत्व स्वीकार नहीं करती और जो कुछ उसके निमित्त किया जाना चाहिये, सो भी नहीं करती । ऐसी दशा में शरीर ही सब कुछ बन जाता है और आत्म-पक्ष अभावग्रस्त, हेय, हीन स्थिति में समय गुजारने के लिये विवश होता है ।

शरीर की, इन्द्रियों की, वैभव की वासना, तृष्णा जब अनियंत्रित हो जाती है, तो अपनी असीम कामनाओं की पूर्ति के लिये वह करने लगती है, जो उसे नहीं करना चाहिये; वह मानने और चाहने लगती है, जिसकी वस्तुतः उसे कुछ आवश्यकता है नहीं ।

यह स्थिति आत्मा को स्वीकार नहीं । वह अपना हक भी माँगती है और जो अनुचित किया जा रहा है, उसका विरोध भी करती है । खींचतान के मूल केन्द्र यही हैं और यहीं से वह अन्तर्द्वन्द खड़ा होता है, जिसका परिणाम आन्तरिक स्वतंत्रता गँवा बैठने और शरीर की गुलामी स्वीकार करने के रूप में सामने आता है । लिप्साओं की पूर्ति की जाती रहती है । साथ ही आत्म हनन भी होता रहता है । तराजू का एक पलड़ा कुछ नीचे झुकाया जाय तो दूसरा हलका पड़ेगा और ऊपर लटकेगा, संतुलन बिगड़ जायेगा । इसी असंतुलन का नाम भ्रष्ट जीवन है । भ्रष्ट चिंतन और दुष्ट आचरण आत्मिक बन्धन के चिन्ह हैं । लोभ की हथकड़ी, मोह की बेड़ी और अहंकार की तौक पहनकर मनुष्य पूरी तरह भव-बन्धनों में आबद्ध हो जाता है । काया को विलास चाहिये और वैभव । वह भी इतनी बड़ी मात्रा में जिसकी कोई सीमा न हो । यह वह प्यास है, जो आग पर घी डालने पर भड़कने वाली अग्नि की तरह कितने ही साधन मिलने पर भी तृप्त नहीं होती । जब कामनाओं का वेग सिर पर असाधारण रूप से सवार होता है, तो नीति और मर्यादाओं के सारे बाँध

तोड़ देता है और वह सब करने लगात है, जो नहीं करना चाहिये । इसकी परिणति उन परिस्थितियों में होती है, जिन्हें नरक कहते हैं–आन्तरिक असंतोष, सम्पर्क क्षेत्र का अविश्वास और गहन अन्तराल में जमने वाले कुसंस्कारों से भविष्य की अन्धकार भरी परिणति । यही सब मिलकर आधि–व्याधियों के रूप में सामने आते हैं; अपयश और अविश्वास का वातावरण बनाते हैं; आत्म प्रताड़ना निरन्तर सहनी पड़ती है और समाजदण्ड, राजदण्ड, प्रतिशोध का निरन्तर भय बना रहता है । इस सबका सम्मिश्रण ही नरक है । इस प्रताड़ना का एक मात्र कारण है शरीर के प्रति असाधारण आसक्ति । उसे ही अपना स्वरूप मान बैठना । उसी को सुखी बनाने के लिये जघन्य और घृणित कार्य पर उतारू रहना । मनःस्थिति की प्रतिक्रिया ही परिस्थितियों के रूप में सामने आती है और तपते हुए नरक की तरह झुलसाती है ।

नरक से बचने और स्वर्ग में प्रवेश करने के लिये दृष्टिकोण बदलने के अतिरिक्त और कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । अपना आत्म–भाव जगाना पड़ता है और मान्यता को इस गहराई तक पहुँचाना पड़ता है कि अपनी सत्ता आत्मा के रूप में परिलक्षित हो और शरीर मात्र आवरण प्रतीत हो । आवरण की रक्षा करते रहना ही पर्याप्त मालूम पड़े और यह स्मरण जागृत बना रहे कि वह सोचना और वह करना है, जो आत्म–गौरव के अनुरूप और अनुकूल है । ईश्वर ने मनुष्य को अपना युवराज बनाया और साथ ही यह दायित्व सौंपा है कि अपने को पवित्र और प्रखर बनाते हुए अपूर्णता को दूर करे । साथ ही विश्व उद्यान के माली की तरह उसे वह करने के लिये कहा, जिससे इस विश्व वाटिका में प्रगतिशीलता एवं सुसंस्कारिता बढ़े । इन दोनों कर्तव्यों की पूर्ति में संलग्न रहना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है साथ ही यथार्थता भी ।

आत्म–बोध का तात्पर्य इतना ही है कि मनुष्य अपने को

ईश्वर का वंशधर समझे और चिंतन, चरित्र एवं व्यवहार को इस योग्य बनाये, जो उसकी गौरव-गरिमा के अनुरूप है । दृष्टिकोण का ऐसा परिवर्तन ही स्वर्ग द्वार में प्रवेश पाना है । उत्कृष्टता के लक्ष्य को अपना लेने पर आदर्शवादी क्रियाकलाप ही बन पड़ते हैं । राजमार्ग का अवलम्बन लेने पर भटकाव की कहीं गुंजायश नहीं रहती । प्रलोभनों के आकर्षण उसे अपनी ओर खींच नहीं पाते । किसी के विरोधी हो जाने पर हानि पहुँचाने के भय और दबाव भी उसे इस स्थिति में नहीं पहुँचाते, जिसमें उसे अवांछनीय या अनैतिक कार्य करने पर उतारू होना पड़े ।

चिन्तन में उत्कृष्टता और आचरण में आदर्शवादिता की समुचित मात्रा भर लेना यही देव जीवन है । जिनने पशुता और पैशाचिकता की निकृष्टता का परित्याग कर दिया, जो ऊँचा सोचता, ऊँचा करता, वह ऊँचा उठता भी है । स्वर्ग ऊर्ध्व दिशा में है । वह किसी स्थान या लोक से संबंधित नहीं है । अपना अन्तःकरण ही वह स्थान है, जिसमें स्वर्ग तो रहता ही है, पर कोई चाहे तो उसे धकेल कर नरक की निकृष्टता को भी प्रतिष्ठित कर सकता है । यह मनुष्य स्वयं ही चुनता और वरण करता है । इसमें किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है ।

प्रत्येक पिता यही चाहता है कि उसका पुत्र उसकी परम्परा एवं प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखे । ईश्वर भी अपने युवराज मनुष्य से यही अपेक्षा करता है कि वह देव जीवन जिये, अपनी विचारणा में उत्कृष्टता और क्रियाकलाप में आदर्शवादिता की मात्रा न घटने दे । अपने सम्पर्क क्षेत्र का वातावरण ऐसा बनाये, जिसे स्वर्गोपम कहा जा सके । इसी आधार पर अपना भीतरी और बाहरी ढाँचा सुव्यवस्थित कर लेना ही-बन्धनों को तोड़कर मोक्ष पाना, नरक से निकलकर स्वर्ग में प्रवेश पाना है । यह सब दृष्टिकोण के परिवर्तन और परिष्कार से ही संभव हो पाता है ।

आत्मोत्कर्ष के मार्ग में तीन प्रमुख बाधायें

आत्मोत्कर्ष के मार्ग में तीन प्रमुख बाधायें ।आत्मा की महती आकांक्षा पुण्य परमार्थ की है । इसके बिना अन्तःकरण को न शान्ति मिलती है और न उसका समाधान होता है । इन दोनों कार्यों को करने की परिपूर्ण क्षमता हर व्यक्ति में है, पर इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि न उन दोनों का स्वरूप समझा जाता है और न उनके लिये वैसा ठोस प्रयत्न ही किया जाता है जैसा कि किया जाना चाहिये । इन दोनों के सम्बन्ध में गहरी भ्रान्ति रहने के कारण प्रायः जिस-तिस को पैसा या वस्तुयें दान कर देना ही सब कुछ मान लिया जाता है, पर जिसके पास पैसा नहीं है, वे क्या करें ? इसका अर्थ यह हुआ कि परमार्थ के लिये पैसा अनिवार्य है । इसलिये उसे सर्वप्रथम येन-केन-प्रकारेण संग्रह करना चाहिये । यह बड़ा असमंजस है कि एक ओर औसत भारतीय स्तर का निर्वाह करने, अपरिग्रही बनने और दूसरी ओर पैसा खर्च करने पर ही परमार्थ सिद्ध होने की बात कही जाय । यह दोनों ही कथन एक-दूसरे के विपरीत पड़ते हैं । अपरिग्रही धन के आधार पर बन पड़ने वाले पुण्य-प्रयोजनों की सिद्धि किस प्रकार कर सकेगा ?

वस्तुतः पुण्य का अर्थ है-आत्मशोधन और परमार्थ का तात्पर्य है-सेवा-साधना । यह दोनों ही हर स्थिति वाले व्यक्ति के लिये संभव है । भीतर के कषाय-कल्मषों को और बाहर के अनाचारों से निपट लेने में हर मनस्वी व्यक्ति सफल हो सकता है । ऐसी ही मनस्विता अर्जित करने के लिये इन्द्रिय दमन या मनो निग्रह से सम्बन्धित साधन-विधान अपनाने पड़ते हैं । मनोबल जहाँ प्रबल हुआ नहीं कि दुष्प्रवृत्तियों का वानर समूह एक जोरदार ललकार देते ही भाग खड़ा होता है ।

आत्मोत्कर्ष के मार्ग में लोभ और मोह को सबसे बड़ा

बाधक माना गया है । लालच के वशीभूत होकर व्यक्ति निरन्तर धन कमाने और उसके आधार पर गुलछर्रे उड़ाने की बात सोचता है । लोभाकर्षण इतना प्रबल है कि दुर्बल मनोभूमि के व्यक्ति के लिये उसे निरस्त करना नितान्त कठिन पड़ता है ।

दूसरा है–मोह । छोटे बच्चे माँ की और समर्थ व्यक्ति पत्नी की घनिष्ठता के निमित्त लालायित रहते हैं । पत्नी बच्चे जनती है और यौन कर्म के दण्ड स्वरूप उस उत्पादन के परिपोषण का दायित्व कन्धों पर लाद देती है । कुछ अन्य कुटुम्बियों को मिलाकर एक परिवार बन जाता है और न्यूनाधिक मात्रा में इन सभी से लगाव चल पड़ता है । यदि यह औचित्य की मात्रा में सीमित रहता, तो भी बात बनती । तब औसत भारतीय स्तर का निर्वाह जुटाते हुए उस परिवार को स्वावलम्बी एवं सुसंस्कारी बनाने भर की जिम्मेदारी रहती, जिसे मिल–जुलकर पूरा करने में कोई विशेष बाधा सामने न आती; किन्तु जब मोह की अति हो जाती है, तो प्रियजनों को कुबेर जितनी सुविधाओं से लाद देने और उत्तराधिकार में विपुल सम्पदा छोड़ मरने को जी करता है । इसके साधन जुटाना भी अत्यधिक कठिन पड़ता है । लोभ और मोह का बना हुआ रस्सा इतना मजबूत होता है कि उनसे जकड़ जाने पर भव–बन्धनों से मुक्ति का कोई मार्ग नहीं मिलता । निर्वाह एक बात है और लालच दूसरी । प्यार एक शब्द है और मोह उसी की छद्म छाया ।

इसलिये ब्राह्मणत्व की दिशा में अग्रसर होने वाले पुण्य परमार्थ की बात सोचने वाले को इन दोनों पर औचित्य की मर्यादा में रहने का कड़ा अंकुश लगाना पड़ता है । इतना करने के उपरान्त ही अपना समय और साधन इतना बच पाता है कि उससे जीवन लक्ष्य की प्राप्ति करा सकने वाले मार्ग पर कदम बढ़ाने का सुयोग बन पड़े ।

आत्मानुशासन के उपरान्त ही आत्मोत्कर्ष का द्वार खुलता है । क्या करना है, इसका निर्धारण तो अपनी क्षमता और कार्यक्षेत्र की आवश्यकता को देखतें हुए करना पड़ता है और परिस्थिति परिवर्तन के साथ–साथ उनमें हेर–फेर भी करना होता

है । साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा के चतुर्विध क्रिया–कलापों को अपनाकर कोई भी आत्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ सकता है । भव–बन्धनों के प्रसंग में दो प्रत्यक्ष हैं और एक परोक्ष । प्रत्यक्ष में लोभ और मोह की गणना करायी जा चुकी है । तीसरा छद्म दुरात्मा है– अहंकार । अहंकार के विविध रूप हैं, पर उन सबका उद्देश्य एक ही है–अपने को दूसरों से बड़ा सिद्ध करना, उन पर छाप छोड़ना और ऐसे प्रदर्शन करना, ताकि दर्शकों को बड़प्पन स्वीकार करना पड़े । शरीर की साज–सज्जा, घर की सजावट, नौकरों, वाहनों और कीमती उपकरणों की भरमार इसीलिये की जाती है कि देखने वालों को अपने तुलना में प्रदर्शन कर्त्ता को–सरंजाम से भरा–पूरा अमीर और बड़ा मानना पड़े । वह बड़प्पन प्रदर्शित करने की बचकानी प्रवृत्ति ही स्त्रियों को चित्र–विचित्र फैशन बनाने और आभूषण धारण करने के लिये उकसाती है । पुरुष ठाठ–बाट के अनेकानेक सरंजाम जुटाते हैं । यह मानसिकता परोक्ष दुर्बलता है, जो विश्लेषण करने वाले की ही पकड़ में आती है अन्यथा इस दुर्बलता को पकड़ना और उसके कौतुक–कौतूहल से भरी–पूरी विडम्बना का पता भी नहीं चलता और समय और साधनों का पूरा अपव्यय उसके निमित्त होता रहता है । लोभ, मोह और अहंकार को ही आयुर्वेद की भाषा में त्रिदोष, सन्निपात कहा जाता है, जिसमें रोगी प्रलाप करता और भारी बेचैनी का परिचय देता है ।

ब्राह्मण को इन तीनों से ही बचना पड़ता है अन्यथा इन समुद्र जितने गहरे खड्डों को पाटने में मनुष्य की शक्ति चुक जाती है और आदर्शों के परिपालन की बात मात्र कल्पना बनकर रह जाती है । ब्राह्मणत्व की दिशा में बढ़ने वाले लोभ–मोह को घटाने या हटाने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं और इस त्याग बलिदान, शौर्य, पराक्रम एवं आदर्शवाद की चर्चा फैलने पर यश मिलता है और अपने को भी तनिक लीक से आगे बढ़कर महा मानवोंके मार्ग पर चलने की गरिमा का भान एवं संतोष होता है ।

किन्तु अहंकार का भ्रमजंजाल ऐसा है, जिससे निकलना

तो दूर, यह पता तक नहीं चलता कि क्षय विषाणुओं की तरह खोखला कर देने वाला अहंकार मन के किस कोने में, किस चतुरता से छिपा बैठा है और कैसे-कैसे विचित्र कौतुक प्रेत-पिशाच की तरह दिखा रहा है ।

धन, यश और सम्मान लूटने के लिये साधु-ब्राह्मण वर्ग के लोग भी अपनी महानता का, साधना का, सिद्धि का ढिंढोरा पीटते रहते हैं और उस जाल में भोले-भावुकों को फँसाकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं । ऐसे सन्त-महन्त सर्वत्र कितनी बड़ी संख्या में फैले पड़े हैं, इसे नजर उठाकर सहज ही देखा जा सकता है । आवश्यक कार्यों की उपेक्षा करके वे ऐसा धर्माडम्बर खड़े करते हैं, जिनमें भले ही जनता की गाढ़ी कमाई बर्बाद होती रहे, पर उन्हें नेतृत्व करने का, संचालक संयोजक बनने का श्रेय मिल सके ।

यह अहमन्यता साथियों को शत्रु बनाती है । दूसरों के हिस्से में श्रेय या पद न जाने देने के लिये उन्हें गिराने और बदनाम करने का कुचक्र चलाना पड़ता है और हर कीमत पर अपने को वरिष्ठ सिद्ध करने का ऐड़ी-चोटी पसीना बहाने जैसा प्रयत्न करना पड़ता है । यदि उसमें सफलता न मिले, तो जिस संस्था की छत्रछाया में पले थे, उसी को बर्बाद करने तक में नहीं चूका जाता, भले ही उससे अपना सींचा पौधा स्वयं ही काट गिराने जैसा अनर्थ बनता हो ।

कितनी ही समर्थ संस्थाओं और संगठनों की दुर्गति इसी छद्म अनाचार-अहंकार के कारण हुई है । किसी समय के भले-भोले व्यक्तियों को अनुपयुक्त जाल-जंजाल रचने पड़े हैं । रामलीला के मेले में जाने वाले बच्चे प्रायः हनुमान और काली के मुखौटे खरीद लाते हैं और एक-दो दिन बड़े चावपूर्वक उन्हें पहनते हैं, ताकि हनुमान और काली जैसा दीखने का दर्प अपनाकर लोगों को अचंभे में डाल सकें और स्वयं अपनी चतुरता पर प्रसन्न हो सकें । अहंकार यों सभी के लिये बुरे हैं, पर ब्राह्मण के लिये तो वह सर्वाधिक अनर्थ मूलक है । ●

मुद्रक-युग निर्माण प्रेस, मथुरा